शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक सातवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आत्मा की गरज

जिसे अंतर में आत्मा की गरज हुई हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की चाह जागृत हुई हो, वैसा जीव चैतन्य को पकड़ने के लिये एकान्त में अन्तर्मन्थन करता है कि अहो! चैतन्यवस्तु की ही महिमा कोई अपूर्व है; उसकी निर्विकल्प प्रतीति को किसी राग का या निमित्त का अवलम्बन नहीं है; शुभभाव अनंतबार किये हैं, फिर भी चैतन्य वस्तु लक्ष में नहीं आई; तो वह राग से पार चैतन्यवस्तु अन्तर की कोई अपूर्व वस्तु है; उसकी प्रतीति भी अपूर्व अन्तर्मुख प्रयत्न से होती है।—इसप्रकार चैतन्यवस्तु को पकड़ने का अन्तर्मुख उद्यम, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११५]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

जड़ से मोक्ष माननेवाले....

एक तो कर्म के उदय से विकार होता है और दूसरे व्यवहार करते-करते निश्चय होता है;—ऐसी मान्यतावाले जीव के अभिप्राय में महान भूल है; वे आत्मा से नहीं किन्तु जड़ से ही मोक्ष होना माननेवाले हैं। किस प्रकार? वह यहाँ कहते हैं।

(१) प्रथम तो जड़कर्म के उदय से शुभाशुभ विकार होता है—ऐसा माना, इसलिये व्यवहाररत्नत्रय के शुभ परिणामों का होना भी जड़ से माना; और—

(२) उस व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय होता है—ऐसा माना;

इसप्रकार— (१) जड़कर्म के उदय से व्यवहाररत्नत्रय और—

(२) व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय, तथा वह निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का कारण—ऐसा माना।

—इसलिये उस अज्ञानी के अभिप्राय में मोक्ष के लिये आत्मा का अवलम्बन लेने की तो कहीं बात ही नहीं है; जड़ से ही मोक्ष होना आया!

मोक्ष का कारण निश्चयरत्नत्रय;

वह निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय के आश्रय से होता है; और व्यवहाररत्नत्रय जड़कर्म के उदय के कारण होता है;—इसप्रकार अज्ञानी, कर्म को ही देखता है, किन्तु आत्मा को नहीं देखता; इसलिये उसे कभी मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

—तो फिर यथार्थ मोक्षमार्ग कैसा है?

ज्ञानी जानते हैं कि मेरे आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही निश्चय सम्यक्त्व ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है; निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में मेरे स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है। स्वभाव के अवलम्बन से निश्चयरत्नत्रय प्रगट किया, वहाँ व्यवहाररत्नत्रय को मात्र उपचार से उसका कारण कहा है।

और वह व्यवहाररत्नत्रय भी कर्म के उदय के कारण नहीं होते; किन्तु मेरी साधकपर्याय में उसप्रकार की योग्यता होती है, कर्म का उदय उसमें मात्र निमित्त है।

इसप्रकार धर्मी जीव स्वाश्रित मोक्षमार्ग को जानता है। जड़ के कारण विकार नहीं है और विकार के कारण स्वभाव नहीं है—ऐसा जानकर धर्मी जीव, स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग की साधना करता है।

[—प्रवचन से]

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ वर्ष दसवाँ अंक सातवाँ

आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा

आत्मकल्याण के लिये झूरते हुए जिज्ञासुओं को यह लेख पढ़ने से ऐसा लगेगा कि—अहो! महा उपकारी संतों के अतिरिक्त आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्यभरी अद्भुत प्रेरणा कौन दे सकता है?

अरे जीव! चैतन्य के अनुभवरहित जीवन तुझे कैसे अच्छा लगता है? हे जीव! अब तो तू जागृत हो... जागृत होकर हमने तुझे जो तेरा चैतन्यस्वरूप बतलाया, उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो। मोह की मूर्च्छा में अब एकक्षण भी मत गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एकबार तो समस्त जगत से पृथक् होकर अंतर में अपने चैतन्यविलास को देख। ऐसा करने से तुझे अपूर्व कल्याण की प्राप्ति होगी। हे भाई! हे वत्स! अब तुझे इस जीवन में यही करने योग्य है।

[१]

जिस जीव को चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है, और अज्ञानभाव से जड़ तथा विकार के साथ एकमेकपना मान रहा है, उसे आचार्यदेव ने समझाया कि हे भाई! तेरा आत्मा तो सदैव चैतन्यस्वरूप है, तेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा कभी जड़ के साथ एकमेक नहीं हो गया है; इसलिये हे जीव! अब तू जड़ के साथ एकमेकपने की मान्यता को छोड़ और अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को देख। जड़ से भिन्न तेरा चैतन्यतत्व हमने तुझे बतलाया, उसे समझकर अब तू प्रसन्न हो,—सावधान हो।

—इसप्रकार आचार्यदेव ने अनेक प्रकार से समझाया; तथापि इतने से भी कोई जीव न

समझे तो पुनः उससे प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सम्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथा विलसंतं स्वं समालोक्य येन
व्यजति भगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्॥२३॥

हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्व का कौतूहली बन, चैतन्यतत्व को देखने के लिये महा प्रयत्न कर। इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का दो घड़ी पड़ौसी बनकर उनसे भिन्न अपने आत्मा का अनुभव कर। तेरे आत्मा का चैतन्यविलास समस्त परद्रव्यों से भिन्न है, उसे देखते ही तेरा समस्त परद्रव्यों के साथ के एकत्व का मोह दूर हो जाएगा।

[२]

यहाँ मरकर भी चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव कर—ऐसा कहकर उस कार्य की परम महत्ता बतलाई है। हे भाई! अपने सर्व प्रयत्नों को तू इस ओर ला। एक आत्मानुभव के अतिरिक्त जगत के अन्य समस्त कार्य करने में मानो मेरी मृत्यु हो गयी हो—इसतरह उनसे उदासीन होकर, इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के लिये उद्यमी हो... सर्वप्रकार के उद्यम द्वारा अन्तरोन्मुख होकर अपने आत्मा को पर से पृथक् देख।

[३]

अरे जीव! चैतन्यतत्व के अनुभव रहित जीवन तुझे कैसे अच्छा लगता है? आत्मा के भान रहित जीवों का जीवन हमें तो मुर्दे जैसा लगता है। जहाँ चैतन्य की जागृति नहीं है, अरे! स्वयं कौन है, उसी की अपने को खबर नहीं है—उसे जीवन कैसे कहा जा सकता है? हे जीव! अब तो तू जागृत हो... जागृत होकर, हमने तुझे तेरा जो चैतन्यस्वरूप बतलाया, उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो। मोह की मूर्च्छा में अब एकक्षण भी मत गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एकबार तो सारे जगत से पृथक् होकर अंतर में अपने चैतन्यविलास को देख। ऐसा करने से तुरा अनादिकालीन मोक्ष छूटकर तुझे अपूर्व कल्याण की प्राप्ति होगी।

हे भाई! हे वत्स! हम तुझ से कहते हैं कि भाई! यह कठिन नहीं है, किन्तु प्रयत्न से सरल है; सिर्फ एकबार तू जगत के समस्त परद्रव्यों से पृथक् होकर उनका पड़ौसी बन जा, और जगत से भिन्न चैतन्यतत्व को देखने के लिये कुतूहल करके अंतर में उसका उद्यम कर।—ऐसा करने से तुझे

अंतर में आनन्दसहित चैतन्य का अनुभव होगा और तुरी उलझन दूर हो जायेगी।

[४]

पर में कोई नई बात आये तो उसे जानने का कितना कुतूहल करता है! तो अनादिकाल से नहीं जाने हुए ऐसे परम महिमावंत चैतन्यतत्व को जानने के लिये कुतूहल क्यों नहीं करता? 'आत्मा कैसा है'—उसे जानने का एकबार तो कुतूहल कर। जगत की दरकार छोड़कर आत्मा को जानने की दरकार कर। अरे जीव! जगत का नवीन जानने में रुचि और चैतन्यतत्व को जानने की लापरवाही—यह तुझे शोभा नहीं देता; इसलिये चैतन्य को जानने की विस्मयता ला, और दुनिया की दरकार छोड़। दुनिया तुझे मूर्ख कहेगी, अनेकप्रकार की प्रतिकूलतायें करेगी, किन्तु उन सबकी उपेक्षा करके, अंतर में चैतन्यभगवान कैसे हैं, उन्हें देखने का ही लक्ष रखना। अगर दुनिया की अनुकूलता—प्रतिकूलता में रुकेगा तो तू अपने चैतन्यभगवान को नहीं देख सकेगा; इसलिये दुनिया की दरकार छोड़कर... अकेला होकर... अंतर में अपने चैतन्यस्वभाव को देखने का महान उद्यम कर।

[५]

आचार्यदेव अत्यन्त कोमलता से प्रेरणा देते हैं कि हे बंधु! अनादिकाल से तू इस चौरासी के कूप में पड़ा है, इसमें से शीघ्र बाहर निकलने के लिये तू मरकर भी तत्व का कौतूहली हो। यहाँ ''मरकर भी तत्व का कौतूहली होना कहा'' उसमें पराकाष्ठा की बात की है। मृत्यु तक के उत्कृष्ट प्रसंग को लक्ष में लेकर तू आत्मा को देखने का कौतूहली हो... भले ही मरणप्रसंग न आये, लेकिन तू उतनी उत्कृष्ट सीमा को लक्ष में लेकर चैतन्य को देखने का उद्यम कर। 'मरकर भी' यानी शरीर जाता हो तो भले ही जाये, लेकिन मुझे तो आत्मा का अनुभव करना है। 'मरकर'—ऐसा कहा उसमें वास्तव में तो देहदृष्टि छोड़ने को कहा है। मरने पर तो देह छूट ही जाती है, किन्तु हे भाई! तू आत्मा को देखने के लिये जीते हुए भी देह की दृष्टि छोड़ दे... 'देह, सो मैं'—ऐसी मान्यता छोड़ दे।

[६]

चैतन्यतत्व को देखने के लिये कुतूहल करने को कहा, वह शिष्य की चैतन्य को देखने की लालसा और उग्रता बतलाता है। तू प्रमाद छोड़कर उग्र प्रयत्न द्वारा चैतन्यतत्व को देख। जिसप्रकार सर्कस आदि के नये-नये प्रसंग देखने में कुतूहल है, इसलिये टकटकी लगाकर देखता रहता है, वहाँ झोंके नहीं आते, प्रमाद नहीं करता; उसीप्रकार हे भाई! शरीरादि के भिन्न ऐसे अपने

चैतन्यतत्व को देखने के लिये जगत की प्रतिकूलता का लक्ष छोड़कर अंतर में कुतूहल कर; पूर्वकाल में कभी न देखे हुए ऐसे परम चैतन्यभगवान को देखने की लालसा कर... प्रमाद छोड़कर उसमें उत्साह कर!

[७]

जिसे चैतन्यतत्व के अनुभव की लालसा है, वह जीव, जगत् की मृत्यु तक की प्रतिकूलता को भी कुछ नहीं समझता। सामने प्रतिकूलता रूप से मृत्यु तक की बात ली और यहाँ चैतन्य को देखने की लालसा-कुतूहल की बात ली;—इसप्रकार आमने सामने उत्कृष्ट बातें ली हैं। चैतन्यतत्व को देखने के लिये, शरीरान्त तक की प्रतिकूलता को लक्ष में लेकर जिसने उसकी दरकार छोड़ दी है; वह जीव, संयोग की दृष्टि छोड़कर अंतर में चैतन्यस्वभाव में उन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। जिसे असंयोगी चैतन्यतत्व का अनुभव करने की कामना है, वह जीव बाह्य में शरीर के वियोग तक की प्रतिकूलता आने पर भी आकुल नहीं होता... भयभीत नहीं होता। यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि चैतन्य के अनुभव का कामी जीव जिसप्रकार जगत की प्रतिकूलता की परवाह नहीं करता, उसीप्रकार जगत् की अनुकूलता में भी वह रुचि नहीं करता, और न बाह्य ज्ञातृत्व में संतोष मानकर अटकता है। अंतर के एक चैतन्यतत्व की महिमा ही उसके हृदय में बसती है; इसके अतिरिक्त अन्य सबकी महिमा उसके हृदय से छूट गई है; इसलिये चैतन्य की महिमा के बल से वह जीव, संयोग और विकार का लक्ष छोड़कर, उन से भिन्न चैतन्यतत्व का अनुभव किये बिना नहीं रहेगा।

[८]

अखण्ड चैतन्य सामर्थ्य से च्युत होकर जिसे अल्पता और विकार में एकत्वबुद्धि है, उसे संयोग में भी एकत्व की बुद्धि है ही; संयोग में एकत्वबुद्धि के बिना अल्पता में या विकार में एकत्वबुद्धि नहीं होती। यदि वास्तव में संयोग में से एकत्वबुद्धि छूट गई हो तो संयोगरहित स्वभाव में एकत्वबुद्धि हो जाना चाहिए।

यहाँ आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध शिष्य को समझाते हैं। हे जीव! अनादि से अपने भिन्न चैतन्यतत्व को चूककर, बाह्य में शरीरादि परपदार्थों के साथ एकत्व की मान्यता से तूने ही मोह उत्पन्न किया था; अब देहादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व की पहिचान करते ही तेरा वह मोह दूर हो जायेगा; इसलिये सर्व प्रकार से तू उसका उद्यम कर।

[९]

आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य ! तू मरकर भी तत्व का कौतूहली हो। देखो, शिष्य में बड़ी पात्रता और तैयारी है, इसलिये वह मरकर भी तत्व का कौतूहली होने की यह बात सुनने को खड़ा है; अंतर में समझकर आत्मा का अनुभव करने की उसकी भावना है, उत्कंठा है; इसलिये जिज्ञासापूर्वक सुनता है। उसे अंतर में इतना तो भासित हो गया है कि आचार्यभगवान मुझ से ''मरकर भी आत्मा का अनुभव करना'' कहते हैं, तो अवश्य मुझे भी यह करने योग्य है; किसी भी प्रकार अपने चैतन्य का अनुभव करना ही मेरा कर्तव्य है।—ऐसा शिष्य अंतर में अपूर्व प्रयत्न द्वारा अल्पकाल में ही चैतन्यतत्व का अनुभव अवश्य करेगा।

[१०]

जिसे अंतर में चैतन्यतत्त्व को जानने का कुतूहल जागृत हुआ और उसके लिये शरीरान्त तक की प्रतिकूलता सहन करने को तैयार हुआ, वह जीव अपने प्रयत्न द्वारा चैतन्योन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। शरीर को छोड़कर भी मुझे आत्मा को देखना है—ऐसा लक्ष में लिया, उसमें यह बात आ ही गई कि मैं शरीर से पृथक् हूँ, मेरा शरीरादि परवस्तु के बिना ही चलता है। शरीर छोड़कर भी चैतन्यतत्व का अनुभव करने के लिये जो तैयार हुआ, उसे शरीर में अपनत्व की बुद्धि तो सहज ही दूर हो जाती है; शरीर छूट जाने पर भी मुझे अपने आत्मा का अनुभव रह जाएगा—ऐसा भिन्नत्व का लक्ष उसे हो गया है।

हे जीव ! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह संसार रहित है; ऐसे संसार रहित चैतन्यतत्व का अनुभव करने के लिये समस्त संसार पक्ष की दरकार छोड़कर तू चैतन्य की ओर उन्मुख हो; ऐसा करने से समस्त संसार से भिन्न ऐसे अपने परम चैतन्यतत्व का तुझे अनुभव होगा और तेरा परम कल्याण होगा।

इस प्रकार आचार्यदेव ने आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा की।

''अहो ! महा उपकारी संतों के सिवा आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्य भरी अद्भुत प्रेरणा कौन दे सकता है ?''

व्यवहार के आश्रय से कल्याण क्यों नहीं होता ?

[मानस्तंभ—प्रतिष्ठा—महोत्सव के समय सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]
(वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला ५)

''अहो ! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायकत्व की बात है; अपने ज्ञायकत्व की प्रतीति करने में किसी राग का अवलम्बन है ही नहीं''—ऐसे लक्षपूर्वक अर्थात् स्वभाव के उल्लासपूर्वक जो जीव एकबार भी यह बात सुने, वह भव्यजीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। यह ऐसे ही सुन लेने की बात नहीं है किन्तु श्रोता पर निर्णय करने की जिम्मेवारी है।

जिसे भव की थकान लगी है और आत्मा का सम्यक् दर्शन प्रगट करके अपना कल्याण करना चाहता है,—ऐसा जिज्ञासु शिष्य, पात्र होकर पूछता है कि हे भगवान ! व्यवहार के आश्रय से कल्याण क्यों नहीं होता ? श्रीगुरु परमार्थ का आश्रय कराना चाहते हैं, और व्यवहार का आश्रय छुड़ाना चाहते हैं;—इतनी बात पकड़कर विशेष समझने के लिये जिज्ञासापूर्वक प्रश्न पूछता है। उसके उत्तर में आचार्यदेव इस ग्यारहवीं गाथा में कहते हैं कि हे शिष्य ! निश्चयनय ही आत्मा के भूतार्थ—परिपूर्ण स्वभाव को बतलानेवाला है और उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है, इसलिये वही अंगीकार करने योग्य है; व्यवहारनय तो भेद को बतलाता है; उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये वह व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है। ''व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक है''—ऐसा पहले कहा था; वहाँ कोई उस व्यवहार को ही परमार्थ न मान ले, इसलिये आचार्यदेव ने स्पष्टीकरण किया है कि भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है; व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं है। व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा, तथापि वह व्यवहार स्वयं करने योग्य नहीं है। अभेद स्वरूप को समझाते हुए भेद से कथन आया; वहाँ उस भेद का लक्ष छोड़कर जो अभेद स्वरूप का अनुभव करे, उसे वह भेदरूप व्यवहार, परमार्थ का निमित्त है। जो जीव भेद का अवलम्बन छोड़कर भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन करे, उसी को वह भेदरूप व्यवहार निमित्त कहलाता है किन्तु उस भेद का अवलम्बन करते-करते उससे परमार्थ का अनुभव हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता।

देखो, उसमें भी उपादान-निमित्त की बात आई।—किस प्रकार?—कि जहाँ उपादान में अभेद की दृष्टि से निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट हो, वहाँ भेदरूप व्यवहार निमित्त है। उपादान के बिना अकेले व्यवहार को तो निमित्त भी नहीं कहा जाता। जिसप्रकार निमित्त के कारण से किसी का कार्य नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ प्राप्त नहीं होता। देखो, यह निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त की बात मुख्य प्रयोजनरूप और समझने योग्य है और उसी में लोगों की बड़ी भूल है, इसलिये व्याख्यान में बारम्बार उसकी स्पष्टता की जाती है। निमित्त के कारण से कार्य होता है, और व्यवहार करते-करते उसके अवलम्बन से निश्चय प्राप्त हो जाता है—ऐसा माननेवाले दोनों एक ही प्रकार की मान्यतावाले मिथ्यादृष्टि हैं।

जिस प्रकार व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है, उसी प्रकार निमित्त भी अनुसरण करने योग्य नहीं। व्यवहार और निमित्त दोनों अभूतार्थ हैं। क्यों हैं कि—निमित्त का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, और व्यवहार एक समयपर्यंत पर्याय में है; किन्तु त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव है। इसप्रकार निमित्त और वयवहार दोनों अभूतार्थ हैं, इसलिये वे अनुसरण करने योग्य नहीं हैं; उन पर भार देने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। व्यवहार का अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन होता है?—नहीं होता। निमित्त का अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन होता है?—नहीं होता। अनेक प्रकार के निमित्त और व्यवहार हों भले, किन्तु उन किसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। सम्यग्दर्शन का एक ही नियम है कि जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ उपादान की शक्ति से ही होता है; और जिसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे अपने भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही होता है। निमित्त की मुख्यता से कथन होता है, कार्य नहीं। जीवों को समझाने के लिये उपदेश तो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न शैली में दिया जाता है; किन्तु उपादान की विधि का तो एक ही प्रकार है; अंतर में उतर कर जब ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लिया, उसी समय सम्यग्दर्शन; वहाँ सभी निमित्त और व्यवहार एक तरफ रह जाते हैं—अर्थात् उन सबका अवलम्बन छूट जाता है। अहो! वस्तुस्थिति ही यह है; किन्तु समझाया कैसे जाये! समझाते समय बीच में व्यवहार आ जाता है। कहा है कि:—

''उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश''

उपदेश में तो अनेक प्रकार से कथन आता है; वहाँ निमित्त के व्यवहार के कथन को ही अज्ञानी चिपटे रहते हैं, किन्तु यह नहीं समझते कि उस कथन का परमार्थ आशय क्या है।—क्या किया जाये!! स्वयं अन्तर में पात्र होकर स्वतंत्र वस्तुस्थिति समझे तो समझ में आये; उसकी पात्रता

के बिना ज्ञानी क्या करें? उसकी पात्रता के बिना साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी उसे नहीं समझा सकते। उपादान की योग्यता के बिना दूसरा क्या करे? यदि उपादान की योग्यता हो तो दूसरे में निमित्त का उपचार आता है।

अहो! जहाँ देखो वहाँ निजशक्ति अर्थात् उपादान की विधि का एक ही प्रकार है। अमुक समय अमुक पर्याय क्यों हुई?—तो कहते हैं ऐसी ही उपादान की योग्यता। सम्यग्दर्शन क्यों हुआ?—तो कहते हैं पर्याय की वैसी ही योग्यता से। इसप्रकार उपादान निरवचन है अर्थात् उसमें उस नियम में कभी भेद नहीं होकर एक ही प्रकार है, एक ही उत्तर है कि ऐसा क्यों?—तो कहते हैं कि ऐसी ही उपादान की योग्यता। यह खासतौर से ध्यान में रखना चाहिए कि "उपादान की योग्यता"—ऐसा जो बारम्बार कहा जाता है, वह त्रिकाली शक्तिरूप नहीं है किन्तु एक समय की पर्याय रूप है; प्रत्येक समय की पर्याय में अपनी स्वतंत्र शक्ति है, उसे उपादान की योग्यता कहा जाता है। जिसे शास्त्र में क्षणिक उपादान शक्ति कहा है। लोगों को समय-समय की पर्याय के स्वतंत्र उपादान की खबर नहीं है, इसलिये निमित्ताधीनता की दृष्टिवाले भ्रम से मानते हैं कि—निमित्त आये तो पर्याय हो; निमित्त बिना न हो। उसमें अकेली संयोगी-पराधीन दृष्टि है। अहो! प्रति समय की पर्याय का स्वतंत्र उपादान है, उसका निर्णय करने में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। वस्तुस्वरूप ही यह है; किन्तु आजकल तो लोगों को यह बात कठिन मालूम हो रही है। उपादान की योग्यता कहो, पर्याय की सामर्थ्य शक्ति कहो, अवस्था की योग्यता कहो, पर्यायधर्म कहो, स्वकाल कहो, काललब्धि कहो, अपना उत्पादसत् कहो, अपना अंश कहो, क्रमबद्धपर्याय कहो, नियत क्रमबद्ध स्वभाव कहो या उसप्रकार का पुरुषार्थ कहो—यह सब एक ही है; इनमें से यदि एक भी बोल का यथार्थ निर्णय कर ले तो उसमें सब कुछ आ जाता है। निमित्त के कारण कोई परिवर्तन या विलक्षणता हो—यह बात ही नहीं रहती। उपदेश में तो अनेक प्रकार का निमित्त भी आता है, किन्तु वहाँ भी सर्वत्र उपादान की स्वतंत्रता को दृष्टि में रखकर उस कथन का आशय समझाना चाहिए। मूल दृष्टि ही जहाँ विपरीत हो, वहाँ शास्त्र के अर्थ भी विपरीत भासित होते हैं। कई लोग बड़े त्यागी या विद्वान माने जाते हैं, तथापि उनके भी उपादान-निमित्तसम्बन्धी विपरीत दृष्टि होती है; उनके साथ इस बात का मेल नहीं बैठता। यथार्थतत्व की दृष्टि के बिना लोगों ने यों ही त्याग की गाड़ियाँ हाँक दी हैं। अरे! तत्वनिर्णय की दरकार भी नहीं करते। किन्तु तत्वनिर्णय के बिना किसी भी प्रकार जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता! तत्वनिर्णय के बिना सच्चा त्याग तो

होता नहीं है, इसलिये वह त्याग भी भाररूप, बंधनरूप, कष्टरूप मालूम होता है।

उपादान की विधि को निरवचन कहा, उसका अर्थ यह है कि उसमें एक ही प्रकार है। जितने प्रश्न पूछो उन सभी में एक ही उत्तर है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ-वहाँ उपादान की योग्यता से ही होता है। उस नियम में कभी, किसी प्रकार, किसी के लिये दूसरा भेद-प्रकार नहीं है। निमित्त दर्शाने का कथन-ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान रुका ?—तो वस्तुस्थिति से कहते हैं कि नहीं, अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान रुका है। कर्म तो निमित्त मात्र है।

गुरु के कारण ज्ञान हुआ ?—कहते हैं नहीं; अपने योग्यता से ज्ञान हुआ।

कुम्हार ने घड़ा बनाया ?—कहते हैं नहीं; मिट्टी की अपनी योग्यता से घड़ा बना है।

अग्नि से पानी गर्म हुआ ?—कहते हैं नहीं; पानी अपनी योग्यता से गर्म हुआ है।

आटे में से स्त्री ने रोटी बनाई ?—कहते हैं नहीं; आटे की योग्यता से रोटी बनी है।

कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ ?—कहते हैं नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण विकार हुआ है।

—इसप्रकार सर्वत्र एक ही उत्तर है कि उपादान की वैसी योग्यता से ही कार्य होता है। अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न निमित्त भले हों, किन्तु उन निमित्तों ने उपादान में कुछ नहीं किया है; और निमित्त तथा उपादान के मेल से कोई तीसरी अवस्था होती है—ऐसा भी नहीं है। उपादान की अवस्था अलग और निमित्त की अलग। निमित्त के कारण उपादान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि उपादान में उसका अभाव है। समय-समय का उपादान स्वाधीन स्वयं सिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अत्यन्त काल से नहीं जमी और पराधीनता मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है, उसमें सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिस प्रकार उपादान में निमित्त का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की अभेद दृष्टि में सारा व्यवहार अभूतार्थ है; शुद्धदृष्टि का विषय नित्य ज्ञानमय एकाकार शुद्ध आत्मा है; उसमें भेद या राग नहीं है। देव-गुरु-शास्त्रादि निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है—यह बात तो दूर रही किन्तु अपने आत्मा में गुण-गुणी के भेद डालकर लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेद के आश्रय से अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता; यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। ''मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, अथवा मैं अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा हूँ''—इसप्रकार शुभ विकल्प करके उस

विकल्परूप व्यवहार का ही जो अनुभवन करता है, किन्तु विकल्प को तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है।

सम्यक्त्वी को वैसा विकल्प तो आता है, किन्तु उसकी दृष्टि अपने भूतार्थस्वभाव पर है, विकल्प और स्वभाव के बीच उसे भेद पड़ गया है; उसके सदैव भूतार्थस्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि (—निर्विकल्प प्रतीति) वर्तती है। देखो, यह धर्मात्मा की अन्तर्दृष्टि! ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

आत्महित की दरकार

यह मनुष्यदेह प्राप्त करके यह निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? मनुष्य भव प्राप्त करके अब मेरा हित कैसे हो—उसकी जिसे दरकार नहीं है और यों ही संसार की मेहनत-मजदूर में जीवन बिताता है, उसका जीवन पशु समान है। जीवन में आत्मा की दरकार करके जिसने अभ्यास किया होगा, उसे अंत समय में लक्ष रहेगा... जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा, वैसा ही योगफल आयेगा। जिसे अपने आत्मा का हित करना है—ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि जीव-राजा को पहिचान कर उसकी श्रद्धा, बहुमान, सेवा और आराधना करे।

卐 धर्मात्मा का वैराग्य 卐

रागी जीव बँधता है, वैरागी जीव छूटता है

(कार्तिक कृष्णा ४ के दिन पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

ज्ञानी के वैराग्य का सच्चा स्वरूप क्या है, वह इसमें बतलाया है। अज्ञानी लोग अंतर्दृष्टि को पहिचाने बिना बाहर से वैराग्य का माप निकालते हैं; बाह्य में कुछ त्याग या मंदकषाय देखें, वहाँ उसे वैरागी मान लेते हैं; किन्तु वह वैराग्य का सच्चा स्वरूप नहीं है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सच्चा वैराग्य होता है। सम्यक्त्वी गृहस्थदशा में रहते हों, तथापि वे परमार्थ से वैरागी हैं... अंतर्दृष्टि में वैराग्य का परिणमन उनके सदैव वर्तता ही रहता है। अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं होता। ''मैं समस्त शुभाशुभ परिणाम से पृथक् एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ; अपने अवलम्बन से ही मेरी मुक्ति है''—ऐसा जानकर जो जीव स्वभावसन्मुख परिणमित हुआ, वही सच्चा वैरागी है... स्वभाव के अवलम्बनरूप वैराग्यभाव मोक्ष का कारण है, और परावलम्बनरूप रागभाव का बंध का कारण है—ऐसा जिनेन्द्रभगवान का उपदेश है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसी के अवलम्बन से आत्मा का मोक्षमार्ग है; इसके सिवा शुभाशुभ कर्मों के अवलम्बन से आत्मा का मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव देह से भिन्न और क्षणिक राग से पार है; उस स्वभाव के सन्मुख होकर जिसने शुभाशुभ समस्त राग की रुचि छोड़ी है, ऐसे सम्यग्दृष्टि—वैरागी जीव ही कर्म से छूटते हैं; किन्तु जो आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जानते और शुभाशुभराग को ही मोक्ष का साधन मानकर उसका सेवन करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि—रागी जीव, कर्म से बँधते हैं। इसलिये हे जीव! यदि तुझे कर्मबंधन से छूटना हो तो, अशुभ और शुभ समस्त कर्मों की रुचि छोड़ और ज्ञानस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी की शरण ले।—ऐसा आचार्यदेव समयसार की १५० वीं गाथा में कहते हैं—

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विराग संप्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः यस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व॥१५०॥

रागी जीव, कर्म बाँधता है और वैराग्य प्राप्त जीव, कर्म से छूटता है—यह जिन भगवान का उपदेश है; इसलिये हे भव्य जीव! तू कर्मों में प्रीति न कर।

जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं है और राग की रुचि है; शुभराग करते-करते आत्मा को

धर्म होगा—ऐसा मानता है—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को ही यहाँ ''रागी'' कहा है; और जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि है तथा राग की रुचि दूर हो गई है—ऐसे सम्यक्त्वी जीव को यहाँ ''वैरागी'' कहा है। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में स्थित हो और उसप्रकार का राग होता हो, तथापि परमार्थ से वह वैरागी है; क्योंकि राग के समय भी उसकी दृष्टि में चैतन्यस्वभाव की ही अधिकता वर्तती है; और मिथ्यादृष्टि जीव, राजपाट छोड़कर त्यागी हो गया हो, वन में रहता हो, द्रव्यलिंगी दिगम्बर मुनि होकर पंचमहाव्रत का पालन करता हो, तथापि वास्तव में वह वैरागी नहीं है किन्तु रागी ही है; क्योंकि अंतर में—यह शुभराग मुझे हितकर है—ऐसे अभिप्राय से उसे राग का अवलम्बन नहीं छूटा है।

अज्ञानी लोग अंतर्दृष्टि को पहिचाने बिना बाहर से वैराग्य का माप निकालते हैं। बाह्य में कुछ त्याग या मन्द कषाय देखें तो वहाँ उसे वैरागी मान लेते हैं; किन्तु वह वैराग्य का सच्चा स्वरूप नहीं है। शुभराग करके ''मैं कुछ धर्म करता हूँ''—ऐसा जो मानता है, उसने तो राग को ही आत्मा माना है; इसलिये उसके तो अनंत राग का अभिप्राय विद्यमान है। राग क्या है और आत्मस्वभाव क्या है ?—इस भेद की भी जिसे अभी खबर नहीं है और राग को ही अपना स्वरूप मानता है, उसे सच्चे वैराग्य की गंध तक नहीं आई। चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन होने से पर का अवलम्बन छूट जाये, उसका नाम वैराग्य है। ज्ञानस्वभावोन्मुख हुआ, वह अस्ति और वहाँ परभावों से छूटा, वह नास्ति;—इसप्रकार सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सच्चा वैराग्य होता है। सम्यक्त्वी को वैराग्य का परिणमन सदैव वर्तता ही रहता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य—इत्यादि पापराग तो बंध का कारण है, और दया, सत्य, दानादि का पुण्यराग भी बंध का कारण है। कोई भी रागभाव बंध का कारण है; उसके बदले जो शुभराग को मोक्ष का साधन मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है; वह शुभराग के समय भी नवीन कर्मों से बँधता ही है—छूटता नहीं है। देखो, इसमें यह बात भी आ जाती है कि जीव को अपना शुभ-अशुभ रागभाव ही बंध का कारण है, किन्तु बाह्य जड़ की क्रिया के कारण जीव को बंधन नहीं होता; क्योंकि वह तो परवस्तु है। जो जीव, परवस्तु को बंध का या मोक्ष का कारण माने, उसे परवस्तु पर राग-द्वेष का अभिप्राय है और उस राग-द्वेष के अभिप्राय के कारण वह जीव बँधता ही है। बाह्य जड़ की क्रिया मेरी नहीं है और वह मुझे बंध या मोक्ष का कारण नहीं है; और जो शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं, वे मेरे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं; मैं शरीर की क्रिया और शुभाशुभपरिणाम से

पृथक् एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ; आपने अवलम्बन से ही मेरी मुक्ति है—ऐसा जानकर जो स्वसन्मुख परिणमित हुआ, वह सच्चा वैरागी है और वह जीव अवश्य ही कर्मों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

देखो, यह जिनेन्द्रभगवान का उपदेश! तेरे स्वभाव के अवलम्बनरूप वैराग्यभाव, वह मोक्ष का कारण है, और पर के अवलम्बनरूप रागभाव, वह बंध का कारण है। इसके सिवा बाह्य क्रिया के कारण आत्मा को मुक्ति या बंध होते हैं—ऐसा भगवान का उपदेश नहीं है। सांसारिक व्यापार-धंधे या हिंसा-झूठ का अशुभभाव छोड़कर अहिंसा, सत्यादि शुभभाव करें और ऐसा माने कि "यह मुझे मोक्ष के साधन हैं"—तो वह जीव वैरागी नहीं किन्तु रागी ही है; वह छूटता नहीं है किन्तु बँधता ही है। सम्यग्दृष्टि को अमुक शुभ-अशुभराग होता है, तथापि अंतर्दृष्टि से वह वैरागी ही है और अंतर में ज्ञान-वैराग्य के बल से वह छूटता ही जाता है। रागी और वैरागी का माप करने की रीति लोगों की मानी हुई रीति से सर्वथा भिन्न प्रकार की है। जिसकी दृष्टि राग पर पड़ी है, वह जीव रागी ही है; और रागरहित चैतन्यस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह जीव वैरागी है।

सर्वज्ञ वीतरागदेव की आज्ञा है कि हे जीव! राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रीति कर और राग की प्रीति छोड़। अपने चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन ही तेरी मुक्ति का उपाय है। शरीर-मन-वाणी की क्रिया मैं करता हूँ और वह क्रिया मुझे मोक्ष का साधन है—ऐसा माननेवाला प्राणी तो महामूढ़ है, उसे सच्चा वैराग्य कभी होता ही नहीं। और व्यवहाररत्नत्रयादि में शुभराग के परिणाम होते हैं; उन्हें मोक्ष का कारण मानकर जो उनकी प्रीति करता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है; उसे राग की प्रीति है किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रीति नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञान ही हूँ; ज्ञान ही मेरा स्वभाव है; मेरे ज्ञान की और राग की एकता नहीं है किन्तु भिन्नता है;—ऐसे भान में ज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की ही प्रीति है, किसी भी राग की प्रीति नहीं है; इसलिये वह सचमुच वैरागी है।

प्रश्न — ज्ञानी को राग होता है, तथापि उन्हें वैरागी क्यों कहते हैं?

उत्तर — प्रथम तो परमार्थतः ज्ञानी को राग होता ही नहीं; क्योंकि राग के समय ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ; मेरा आत्मा ज्ञानमय है किन्तु रागमय नहीं है; राग मेरे ज्ञान से भिन्न है। और ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है। राग मुझे हितकर है—ऐसा वे नहीं मानते। किसीसमय भी उनकी स्वभावोन्मुख दृष्टि हटकर राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती;—इसलिये ज्ञानी वैराग ही हैं।

अज्ञानी अकेले राग को ही देखते हैं, किन्तु ज्ञानी का ज्ञान निरन्तर उस राग से पृथक् होकर अंतर्स्वभाव में एकाकाररूप से परिणमित हो रहा है,—परन्तु उसे अज्ञानी नहीं जानते।

यहाँ तो आचार्यदेव दो पक्ष करके बात को स्पष्ट करते हैं कि एक ओर भगवान आत्मा और दूसरी ओर कर्म। जो जीव किसी भी प्रकार के कर्म को—शुभराग को मोक्ष का साधन मानता है, वह कर्म से रँगा हुआ है, उसे आत्मा का रँग नहीं लगा, वह रागी होने से कर्म से बँधता ही है। और जिसे समस्त शुभाशुभ कर्मों से भिन्न चैतन्स्वभावी आत्मा की प्रीति है, वह जीव किसी भी शुभ-अशुभ कर्म को मोक्ष का साधन नहीं मानता; इसलिये वह वैरागी है; वह कर्मों से बँधता नहीं किन्तु छूटता है।

चैतन्यस्वभाव के अवलम्बनरूप वीतरागी ज्ञानभाव है; उसके अतिरिक्त जितने शुभ या अशुभ रागभाव हैं, वे सब बँधन के कारण हैं। जिसप्रकार पापभाव बँधन का कारण है, उसीप्रकार पुण्यभाव भी बंधन का ही कारण है; इसलिये मोक्षमार्ग में समस्त शुभाशुभ कर्मों का निषेध है—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का आदेश है। शुभभाव भी बंधन का ही कारण है। जो बंधन का कारण हो, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?—नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुए वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारिरूप जो ज्ञानभाव है, वही मोक्ष का सच्चा कारण है; राग, मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिये हे जीव! तू ज्ञानस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्र हो, राग में एकाग्र न हो—ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है। ●●

नेमिनाथ भगवान की दीक्षा

सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर भगवान
की दीक्षा के पश्चात् आम्रवन में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन।
[वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला ८, रविवार]

'वंदित्तु सव्वसिद्धे...', इस सूत्र द्वारा पूज्य गुरुदेव ने
इस प्रवचन का मंगलाचरण किया था।

नेमिनाथ भगवान के पंचकल्याणक हो रहे हैं। उनमें आज भगवान की दीक्षा का प्रसंग है। जब भगवान ने दीक्षा ली, उस दिन श्रावण शुक्ला छठवीं थी; आज यहाँ भी आरोप से श्रावण शुक्ला छठवीं है और भगवान ने आम्रवन में दीक्षा ली है। भगवान ने कैसी दीक्षा ली, वह अब कहा जाता है।

श्री नेमिनाथ भगवान, आत्मा के भानसहित स्वर्ग में से शिवादेवी माता की कुक्षि में आये थे। माता के पेट में सवानव महिने रहे, उस समय भी देह से पार आत्मा के चिदानंद स्वभाव का भान था। सम्यग्दर्शन और मति-श्रुत-अवधि यह तीन ज्ञान तो भगवान को पहले से ही थे। मैं ज्ञानानंद आत्मा हूँ, अनंत ज्ञान-दर्शन-आनंद और वीर्य की शक्ति से परिपूर्ण हूँ—ऐसा आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो, वह सम्यग्दर्शन है। अखण्ड आनंदमूर्ति आत्मा, राग से और पर से भिन्न है—इसकी प्रतीति-अनुभव के पश्चात् ही मुनिदशा होती है। भगवान को ऐसा सम्यग्दर्शन तो पहले से था ही, और लग्न प्रसंग पर वैराग्य होने से आत्मा के अवलम्बन पूर्वक वे अनित्य आदि बारह भावनायें भाने लगे। बारह भावनायें तो संवर-निर्जरा का कारण हैं; "शरीरादि अनित्य हैं"—इस प्रकार मात्र पर के लक्ष से अनित्य भावना यथार्थ नहीं होती, परन्तु नित्य एकरूप ऐसे चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से शरीरादि अनित्य पदार्थों की ओर का राग छूट जाने से सच्ची अनित्य भावना होती है। "अनित्य भावना"—ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तव में उस में "अनित्य" का अवलम्बन नहीं है, परन्तु नित्य ऐसे ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन है। सम्यग्दर्शन के बिना बारह भावनायें यथार्थ नहीं होती। भगवान ने कैसी बारह भावनायें भायी थीं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। भगवान ने तो सम्यग्दर्शनसह चिदानंदस्वभाव के अवलम्बन से बारह भावनायें भायी थीं।

अहो! मैं चिदानंद नित्य हूँ, और रागादि क्षणिक अनित्य हैं, वे मेरे नित्य स्थायी स्वरूप में स्थित रहनेवाले नहीं हैं; शरीरादि का संयोग और राग, वह कृत्रिम उपाधि और दुःखरूप है, मेरा ज्ञानानंदस्वभाव तो अकृत्रिम नित्य आनंदकंद है—ऐसी भावना से शरीरादि की ओर का राग कम हो जाए, उसका नाम भावना है। उसमें जो शुभराग है, वह वास्तव में भावना नहीं है; परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागभाव हुआ है, वही सच्ची भावना है, और वही संवर-निर्जरा का कारण है—भगवान ने ऐसी भावना भायी थी।

अज्ञानी जीवों की दृष्टि बाह्य के ग्रहण-त्याग पर है, परन्तु वास्तव में परपदार्थों का ग्रहण-त्याग आत्मा में कभी है ही नहीं। आत्मा में "त्यागोपादानशून्यत्व" है, इसलिये वह परवस्तु के ग्रहण-त्याग से त्रिकाल शून्य है। आत्मा ने वस्त्र को छोड़ा और वस्त्रों को छोड़ने से मुनित्व हो गया—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, परन्तु वे दोनों बातें मिथ्या हैं। आत्मा वस्त्र से तो त्रिकाल रहित है, आत्मा ने अपने में कभी वस्त्रों का ग्रहण किया ही नहीं, तब फिर आत्मा वस्त्रों को छोड़े, यह बात ही कहाँ रही; और वस्त्र छूटकर शरीर की निर्ग्रंथदशा हुई; उस आधार से कहीं मुनित्व नहीं है। हाँ, मुनित्व के समय शरीर की वैसी दशा होती अवश्य है, परन्तु मुनित्व तो आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई वीतरागी दशा में हैं। चैतन्य के अनुभव में लीन होने पर वीतरागी मुनिदशा प्रगट हुई और राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई, वहाँ "आत्मा ने राग को छोड़ा"—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में राग उत्पन्न हुआ और उसे छोड़ा—ऐसा नहीं है। और राग छूटने पर, राग के निमित्तरूप वस्त्रादि परिग्रह भी स्वयं छूट गये, वहाँ आत्मा ने उस परिग्रह को छोड़ा—ऐसा कहना वह उपचार मात्र है। वास्तव में उन वस्त्रादि की क्रिया का कर्ता नहीं है।

भगवान तो अपने आनंदकंद स्वरूप में झूलते थे और सहज अतीन्द्रिय आनंदरूपी अमृत का अनुभव करते थे। त्रिकाल के मुनियों की दशा आत्मा के सहजानंद में झूलती हुई होती है; देह पर वस्त्र का धागा भी नहीं होता। अंतर स्वरूप में झूलते-झूलते राग सहज ही कम हो जाता है; इसलिये वस्त्रादि के ग्रहण की वृत्ति ही अंतर में नहीं उठती और बाह्य में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं होता। अभी जिसे ऐसी मुनिदशा का भान न हो, उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, तब फिर बारह भावनायें और मुनित्व तो कहाँ से होगा। देखो, यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की भावना की बात है। मैं अखण्डानंद चैतन्य ज्योति हूँ, राग का एक अंश भी मुझे हितरूप नहीं है, देहादि कोई पदार्थ मुझे शरणरूप नहीं है; मेरा ध्रुव आत्मा ही मुझे शरणरूप है—ऐसी अंतर्दृष्टिपूर्वक आत्मा में विशेष

लीनता होने से अस्थिरता का राग छूट जाए, उसका नाम भावना है; और वह संवर है। ''मैं त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व हूँ, प्रमत्त-अप्रमत्त—ऐसे भेद भी मेरे त्रिकालीस्वरूप में नहीं हैं''—ऐसी दृष्टि प्रथम होना चाहिए; पश्चात् उसमें लीनता से मुनिदशा प्रगट होती है। ऐसी मुनिदशा में झूलते हुए भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव समयसार की छठवीं गाथा में कहते हैं –

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दुजो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥

अहो! मेरा आत्मा अप्रमत्त या प्रमत्त पर्याय जितना नहीं है, मेरा आत्मा तो एक ज्ञायकभाव है; अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेदों के विकल्प से मैं आत्मा को खण्डित नहीं करता, किन्तु अखण्ड ज्ञायकभावरूप से आत्मा का अनुभव करता हूँ। देखो, यह मुनिदशा! नेमिनाथ भगवान ने आज ऐसी मुनिदशा प्रगटी की। ''मैं ज्ञायक चिदानंद हूँ''—ऐसी दृष्टि तो थी, फिर उसमें लीन होकर भगवान ने मुनिदशा प्रगट की। वह मुनिदशा कहीं बाहर से प्रगट नहीं हुई है, परन्तु अंतर में चिदानंदपिण्ड आत्मा के अनुभव से वह दशा प्रगट हुई है। अहो! उस मुनिदशा के आनंद की क्या बात! धन्य है उस दशा को! धन्य वह अवसर!

श्री नेमिनाथ भगवान राजकुमार थे; आत्मा का भान था परन्तु अभी अस्थिरता का राग होता था। राजुल को विवाहने के लिये जा रहे थे और बीच में पशुओं का आर्तनाद सुनकर वैराग्य हुआ और अनित्य, अशरणादि बारह भावनायें भाकर भगवान ने दीक्षा ली; अस्थिरता का भी राग छोड़कर भगवान मुनि हुए। समस्त तीर्थंकर भगवन्त वैराग्य होने पर बारह भावनायें भाते हैं। पूर्व काल में शांतिनाथ आदि तीर्थंकरों ने भी ऐसी भावना भाकर दीक्षा ली थी। इस समय महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान विराज रहे हैं, उन्होंने भी दीक्षा से पूर्व यह बारह भावनायें भायी थीं। ज्ञानानंद स्वरूप के अवलंबन से ही यह बारह भावनायें यथार्थ होती हैं। ध्रुव स्वरूप की दृष्टिपूर्वक उस में लीनता द्वारा अध्रुव रागादि भाव छूट जाएँ, उसका नाम सच्ची अनित्य भावना है। बारहों भावनाओं में अवलंबन तो एक आत्मा का ही है।

अहो! मेरा चिदानंद ध्रुव आत्मा ही मुझे शरण है, इसके अतिरिक्त संयोग तो क्षणिक हैं, वे कोई मुझे शरणरूप नहीं हैं; रागादि भाव भी मुझे शरणरूप नहीं हैं; अपने आत्मस्वरूप का आश्रय लूँ, वही मुझे शरणरूप है।—इस प्रकार अपने ध्रुव स्वभाव के अवलंबन से ही सच्ची अशरण भावना होती है। जिसे अंतर में चैतन्य की शरण भासित हुई हो, उसी को सच्ची अशरण भावना

होती है। शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ—यह तीनों तीर्थंकर तो चक्रवर्ती थे, परन्तु अंतर में भान था कि इस छह खण्ड के राजवैभव में कोई भी हमें शरणभूत नहीं है, अपने चिदानंद के अतिरिक्त अन्य कोई हमें शरण नहीं है। हमारा ज्ञायकमूर्ति आत्मा ही हमें शरणरूप है। अंतर में आनंदकंद चैतन्य ज्योति भरी है, सिद्धस्वरूपी चैतन्य सामर्थ्य हमारी आत्मशक्ति में भरा है, वही हमें शरण है। सीमंधर वर्तमान में विराज रहे हैं—वे और दूसरे अनंत तीर्थंकर ऐसी भावना भाकर मुनि हुए थे। शरणभूत ऐसे चैतन्य का अवलंबन लेकर उसमें लीन होने से बाह्य में 'यह मुझे अनुकूल और प्रतिकूल'—ऐसा विकल्प ही नहीं उठता। कोई भी संयोग मुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं है—ऐसा वीतरागी अभिप्राय तो पहले से ही था, और तदुपरांत अब चैतन्य में लीनता होने से ऐसी वीतरागी परिणति हो गई कि कोई भी अनुकूल—प्रतिकूल प्रसंग में राग-द्वेष की वृत्ति भी नहीं उठती। ऐसी मुनिदशा है। भगवान ने आज ऐसी दशा प्रगट की।

मुनिदशा में भगवान को तो आत्मा के सहज आनंद की अलौकिक मस्ती थी। चैतन्य-समूह में से आनंद के स्रोत बहते थे। जिस प्रकार पर्वत में से शीतल झरना बहता है, उसी प्रकार भगवान के अंतर में चैतन्य पर्वत में से आनंद के झरने बहते थे.... परम शांतरस की धारा बहती थी..... अपूर्व अमृत के फव्वारे छूटते थे। अहो! भगवान ने अंतर में उतरकर आनंद के सागर में डूबकी लगाई। मुनिदशा में भगवान को ऐसे आनंद का अनुभव था कि बड़े-बड़े इन्द्र और चक्रवर्तियों को उतना आनंद नहीं होता। इन्द्रादि जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके वैसे अतीन्द्रिय आनंद का अंश होता है, परन्तु मुनिदशा जितना आनंद उनके नहीं होता। मुनिदशा जैसे आनंद का नमूना होता है, परन्तु उतना आनंद नहीं होता। मुनि के तो आनंद का अनुभव बहुत बढ़ गया है, वे तो आत्मानंद सागर में मग्न हैं। अहो! उस आनन्दसागर में झूलनेवाले संतों की क्या बात करें! वे तो पंच परमेष्ठी पद में सम्मिलित हो गये हैं और केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है।

मेरे आत्मा के त्रिकाली स्वभाव से एकत्व है और पर से पृथ्थक्त्व है—इसप्रकार स्वभाव की भावना करके उसमें एकाग्रता द्वारा भगवान आनंद का अनुभव करते थे। आत्मा आनंद का पर्वत है, उसमें अन्तर्लीनता द्वारा ध्यानरूपी शस्त्र मारकर भगवान ने अतीन्द्रिय आनंद प्रगट किया। चौथे गुणस्थानवाले इन्द्रादि को मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान हों और पाँचवें गुणस्थानवाला कोई साधारण श्रावक हो, अरे! तिर्यंच हो और उसे अवधिज्ञान भी न हो, तथापि इन्द्र के आनंद की

अपेक्षा उस पाँचवें गुणस्थानवाले तिर्यंच का आनंद बहुत बढ़ गया है। और छटवें-सातवें गुणस्थानवाले मुनि को तो बहुत ही आनन्द बढ़ गया है, अंतर में खूब लीनता द्वारा वे तो आनन्द के अनुभव में मग्न हैं; कहीं बाह्य संयोगों में से आनन्द नहीं आता, परन्तु आत्मा स्वयं आनंद का सागर है, उसमें डुबकी लगाकर जितना एकाग्र हो, उतना आनंद का अनुभव होता है। बाह्य संयोगों से आनंद मिलता हो, तब तो इन्द्र को सबसे अधिक आनंद आये; परन्तु ऐसा नहीं है। मुनियों को नग्नावस्था में, जंगल में रहने और सर्दी-गर्मी सहन करने का किंचित् भी दुःख नहीं है। मुनि तो आत्मा के आनंद में ऐसे लीन हैं कि बाह्य संयोगों पर लक्ष ही नहीं जाता; और लक्ष जाए तो वहाँ राग-द्वेष नहीं होता। पहले अपनी स्वतंत्र पर्याय की अशक्ति से राग-द्वेष होते थे; अब मुनिदशा में स्वभाव की एकाग्रता के पुरुषार्थ से राग-द्वेष नहीं होते।

जिसप्रकार नारियल के अंदर रहनेवाला सफेद मीठा गोला, वह बाहर की छाल और नरेली और लाल छाल से पृथक् है, उसीप्रकार भगवान अपने भिन्न चैतन्यतत्त्व की भावना करते थे कि—अहो! मेरा आनंदकंद चैतन्य गोला इस शरीररूपी छाल से, कर्मरूपी नरेली से और रागरूपी ललाई से पृथक् है। इस प्रकार भिन्न चैतन्य की भावना भाकर भगवान उसमें ऐसे लीन हो जाते कि—''मैं देह में हूँ, अथवा मैं तीर्थंकर हूँ, मैं मुनि हूँ और केवलज्ञान प्रगट करूँ''—ऐसे कोई भी विकल्प नहीं रहते थे। आत्मा के आनंद के अनुभव में ऐसी लीनता हुए बिना किसी जीव को मुनिदशा नहीं होती; और अंतर में ऐसी मुनिदशा होने से बाह्य में शरीर पर वस्त्रादि का ग्रहण नहीं होता। अंतर में तो राग-द्वेषरहित भावनिर्ग्रंथता और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रहरहित द्रव्यनिर्ग्रंथता —इसप्रकार भाव से और द्रव्य से निर्ग्रंथदशा हुए बिना किसी जीव को तीनकाल में मुनित्व नहीं होता और मुनिदशा के बिना केवलज्ञान या मुक्ति नहीं होती।

भगवान को खबर थी कि मैं इसी भव में केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर होनेवाला हूँ, मैं इसी भव में सिद्ध होनेवाला चरमशरीरी हूँ, परन्तु चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। मैं अब मुनि होकर वीतरागी चारित्र और केवलज्ञान प्रगट करना चाहता हूँ। वैराग्य होने पर भगवान ऐसी भावनायें भाते थे। मेरा आत्मा पवित्र ज्ञायकस्वरूप है; रागादि भाव तो मलिन हैं और देह अशुचिमय है।—ऐसी अशुचि भावना में शरीरादि के प्रति द्वेष भाव नहीं है; परन्तु चैतन्य के पवित्र स्वभाव के साथ मिलान कर शरीरादि को अशुचि कहा है। जहाँ चैतन्यस्वभाव में लीनता हुई, वहाँ शरीर के प्रति किंचित् ग्लानि नहीं है;—इसका नाम सच्ची अशुचि भावना है। परद्रव्य के प्रति

ग्लानि का भाव आये तो वह द्वेष है।

मुनि होने पूर्व भी "मैं अनंत गुणों का धाम चिदानंद पवित्र हूँ"—ऐसी आत्मदृष्टिपूर्वक भगवान कभी-कभी निर्विकल्प अनुभव करते थे। उस समय अस्थिरता का राग था, अब मुनि होने के पश्चात् तो भगवान को अस्थिरता का राग भी छूट गया, और बारम्बार आत्मा में लीन होकर निर्विकल्प आनंद का अनुभव करने लगे। मुनिदशा में भगवान को वन के कष्ट नहीं थे, परन्तु भगवान तो आत्मा के आनंद में झूलते थे। अहो! वीतरागी चारित्रदशा में मुनिवरों को कष्ट नहीं है, परन्तु परम आनंद है। बाह्य में कष्ट सहन करने को अज्ञानी लोग संवर और तप मानते हैं परन्तु संवर और तप तो अंतर की वीतरागी दशा में हैं, उसे वे नहीं जानते। भगवान ने तो स्वरूप के आनंद में झूलते-झूलते आत्मा में से ही संवर और तप प्रगट किये थे। देखो, यह भगवान की दीक्षा! दीक्षाकल्याणक कहो अथवा तपकल्याणक कहो; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता या वीतरागता कहो—वैसी दशा आज भगवान ने अपने आत्मा में से प्रगट की है, उसी का यह महोत्सव है।

अहो! परमानन्दमय सिद्धदशा के कारणरूप ऐसे चारित्र और तप भी सुखदायी हैं, परन्तु अज्ञानी उस चारित्र और तप को दु:खरूप कष्टदायक मानकर उसका अनादर करते हैं। चारित्रवंत मुनिराज को देखकर जिसे करुणा से ऐसा विचार आये कि "अरे रे! बेचारे इन मुनि को कितना दु:ख है।"—तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है; उसे मुनि की अंतरंगदशा का भान नहीं है। अरे! चारित्र तो आनंददायक है, चारित्र और तप में मुनियों को किंचित भी कष्ट नहीं है; मुनि तो आत्मा के आनंद में झूलते हैं... अंतर के उपशमरस सागर में आत्मा झूलता है—ऐसी चारित्रदशा है और तप में चैतन्य का प्रतपन है। प्रतिक्षण चैतन्य की शुद्धता और आनंद में वृद्धि होती जाए, उसका नाम तप है। जिस प्रकार गेरू के रंग से सुवर्ण में झलक आ जाती है; उसी प्रकार अंतर में एकाग्रतारूपी रंग से चैतन्य का प्रतपन होना, शोभित होना-उग्रता होना, उसका नाम तप है, उसमें चैतन्य के आनंद की झलक है। उस आनंद के अनुभव में एकाग्र होने से बाह्य आहार की वृत्ति छूट जाती है। अंतर की आनंददशा के बिना बाह्य में आहारादि का त्याग करें, वह कहीं सच्चा तप नहीं है। आत्मा के भान बिना बाह्य में शरीर की नग्नदशा अनंतबार की, और आहार को छोड़कर उपवास किए, परन्तु वह चारित्र या मुनित्व नहीं है। भगवान ने जो नग्नदशा धारण की, वह तो अंतर में आनंद के अनुभव सहित थी। मुनित्व हो, वहाँ शरीर की नग्नदशा ही होती है, परन्तु मुनित्व कहीं शरीरादि की दशा में

नहीं रहता, मुनित्व तो आत्मा की अंतर दशा में है। पंचमहाव्रत के शुभविकल्प में भी वास्तव में चारित्र नहीं है; आत्मा का चारित्र पृथक् वस्तु है, राग पृथक् वस्तु है और शरीर की दिगम्बरदशा पृथक्वस्तु है;—तीनों भिन्न-भिन्न हैं; किसी के कारण कोई नहीं है। ''मैं वस्त्र-त्याग करके मुनि हो जाऊँ; मैं पंच-महाव्रत का पालन करूँ''—ऐसे शुभ विकल्प में से कहीं भगवान की मुनिदशा नहीं आयी थी; भगवान ने तो अंतर्स्वभाव में डुबकी लगाकर उसमें से मुनिदशा प्रगट की है। देखो, यह भगवान की मुनिदशा! अरे जीव! एकबार तो इस मुनिदशा का स्वरूप सुन... लक्ष में ले!

अहा! आज तो नेमिनाथ भगवान के वैराग्य का प्रसंग देखकर और राजुल की वैराग्य भावना सुनकर आँखों में आँसू आ जाते थे... आज तो भगवान के वैराग्य का अद्भुत दृश्य नेत्रों के सामने से नहीं हटता! ऐसा लगता है मानो भगवान साक्षात् दीक्षा ले रहे हों। इस सौराष्ट्र में ही गिरनार के सहस्राम्रवन में भगवान ने जो दीक्षा ली थी, उसकी यहाँ स्थापना की जा रही है.. देखो, यहाँ सहस्राम्रवन में भगवान दीक्षा ले रहे हैं! ऐसा लग रहा है, मानो भगवान साक्षात् पधारे हों! (गुरुदेव के इन उद्गारों को हजारों श्रोताओं ने अत्यन्त हर्षपूर्वक तालियों से स्वागत किया था।) अहो! यह वन भी प्राकृतिक सहसावन जैसा मालूम होता है। गिरनार का सहसावन तो यहाँ से ४०-५० कोश दूर है, परन्तु यहाँ तो दूर को भी निकट ला दिया है। भगवान ने तो लगभग ८५००० हजार वर्षपूर्व दीक्षा ली थी; परन्तु रुचि के बल से काल का अन्तर निकालकर भक्त कहते हैं कि भगवान इसीसमय इस आम्रवन में दीक्षा ले रहे हैं; जैसा दीक्षा का प्रसङ्ग ८५००० हजार वर्ष पहले गिरनार के आम्रवन में हुआ था, वैसा ही इससमय हो रहा है। हमारे इस आम्रवन में हमारे सामने ही भगवान दीक्षा ले रहे हैं...

अहो! आज नेमिनाथभगवान भाव से और द्रव्य से दिगम्बर हुए... धन्य है वह दशा! धन्य है वह घड़ी! निर्ग्रंथ होने के पश्चात् भगवान आत्मध्यान में लीन हुए, और तुरन्त ही पहले सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान प्रगट हुआ। मुनिदशा की त्रिकाल ऐसी ही स्थिति है कि प्रथम आत्मध्यान में सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और पश्चात् विकल्प उठने पर छठवाँ गुणस्थान आता है। मुनि आनंदकंद आत्मा में झूलते हैं; उनके तीन प्रकार की कषायों का तो नाश हो गया है, मात्र अत्यन्त मंद संज्वलन कषाय शेष रही है, इसलिये वस्त्रादि ग्रहण की, रक्षण की इच्छारूप तीव्र कषायभाव उनके होता ही नहीं; मुनियों की दशा त्रिकाल दिगम्बर ही होती है। अनादि जैनशासन में मुनियों की ऐसी ही सहजदशा होती है। मन-वचन-काय से करना, कराना और अनुमोदन करना—इसप्रकार

नवों प्रकार से परिग्रह छूट जाता है; पश्चात् ही मुनिदशा होती है। यदि अंतर में परिग्रह की शल्य पड़ी हो तो मुनिदशा नहीं होती।

लोग तो आत्मा को भूलकर बाह्य में दीक्षा मान बैठे हैं, परन्तु दीक्षा तो आत्मशिक्षापूर्वक होती है। दीक्षा और परिषह में मुनियों को कष्ट नहीं है, परन्तु आत्मा की अपूर्व शांति है। प्रतिकूल प्रसंग हो और उसमें कष्ट मालूम हो—उसका नाम परिषह नहीं है, कष्ट का भाव तो द्वेष है—पाप है। चाहे जैसे प्रसंग पर राग-द्वेष का भाव न हो और चैतन्य में लीनता बनी रहे, उसका नाम परिषह है। ऐसा परिषह, मार्ग अच्यवनपने का और निर्जरा का कारण है। बाह्य में परिषह के चाहे जैसे निमित्तों के समय आत्मा की पर्याय में दर्शन-ज्ञान चारित्र से अच्युतपना रहे और शुद्धता की वृद्धि हो, उसका नाम परिषह है। कहाँ मुनिवरों का ऐसा परिषह! और कहाँ अज्ञानियों का माना हुआ परिषह! प्रतिकूल संयोग आ जायें और राग-द्वेष की वृत्ति हो, वह कहीं परिषह नहीं है, परन्तु उस समय आत्मा की वीतरागी शांति से च्युत न होने का नाम परिषह है। अहो! दर्शन-ज्ञान-चारत्रि के वीतरागी आनंद में झूलता हुआ मुनिमार्ग है, उस आनंद के अनुभव से च्युत न होना, वह परिषह है। परिषह में मुनियों को दुःख नहीं है, परन्तु आनंद है।

देखो, यह बात चौदह ब्रह्माण्ड में सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा रजिस्टर्ड हो गई है! अनंत तीर्थंकर यही मार्ग लेकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, और ऐसा ही मार्ग जगत् को बतला गये हैं। इससमय महाविदेह में ऐसा ही मार्ग धोखबन्द चल रहा है। सभी दिगम्बर संत यह एक ही मार्ग बतला गए हैं। कुंदकुंदाचार्यदेव, समन्तभद्राचार्यदेव, पद्मनन्दि मुनिराज अथवा धरसेनाचार्यदेव—इत्यादि किन्हीं भी मुनि को लो, उन सबकी यह एक ही धारा चली आ रही है। तीर्थंकर और संत—मुनियों ने जो बात कही है, वही यहाँ कही जा रही है। मुक्ति प्राप्त करना हो तो जगत् को यह बात मानना ही पड़ेगी; इसके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से तीनकाल में किसी की मुक्ति नहीं होती।

नेमिनाथ भगवान को अवधिज्ञान था और उन्हें खबर थी कि "इसी भव में मेरे अनादि संसार का अन्त होना है और अब मेरी सादि-अनंत सिद्धदशा का प्रारम्भ होना है; अब मुझे नया भव धारण नहीं करना है; यह अन्तिम अवतार है।" इसप्रकार भगवान को वैराग्य हुआ और दीक्षा ग्रहण की। अहो! तीर्थंकर के वैराग्य की क्या बात करें! वैराग्य होने के पश्चात् वे संसार में नहीं रुकते। आज भगवान के वैराग्य का अद्भुत प्रसंग है। वैराग्य होते ही भगवान तो दीक्षा लेकर वन में चले गये। भगवान गिरनार के आम्रवन में गये, यह तो संयोग का कथन है; वास्तव में अंतर के

चैतन्यवन में—जहाँ अपूर्व ज्ञान और आनंदरूपी आमों की फसल आती है, ऐसे आम्रवन में—भगवान विलीन हो गये... भगवान ने अन्तर की चैतन्यगुफा में प्रवेश किया... वन में विचरनेवाले भगवान को दु:ख नहीं था परन्तु आत्मा के आनंद की मौज थी; अन्तर में शांति की धारायें बहती थीं। अज्ञानियों को तो भगवान के इस आनंद की कल्पना भी कहाँ आ सकती है ?

समस्त तीर्थंकर भगवन्तों की दीक्षा के पश्चात् आत्मध्यान की अपूर्व जागृति में सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान और मन:पर्ययज्ञान प्रगट होता है; और तीर्थंकरों को क्षपकश्रेणी ही होती है, उनके सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान अनेकबार आता-जाता रहता है, परन्तु उपशमश्रेणी नहीं होती—सीधी क्षपकश्रेणी ही होती है। अहो ! छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि आत्मा के सहजानंद में झूलते हैं। चलते-फिरते और आहार लेते समय भी बारम्बार निर्विकल्प अप्रमत्तदशा हो जाती है; हाथ में आहार का ग्रास हो और मुनि तो निर्विकल्प होकर अंतर में चैतन्यपिण्ड का स्वाद लेते हैं। प्रमाददशा में मुनि दीर्घकाल तक नहीं रहते। मुनियों को इतनी आत्मजागृति बढ़ जाती है कि निद्रा उड़ जाती है, एकसाथ अधिक कालतक निद्रा नहीं होती; निद्रा का काल अत्यल्प है, पूरे एक घण्टे की निद्रा नहीं होती, क्योंकि छठवें गुणस्थान का काल अल्प है। निद्रा कम है; इसलिये कोई कष्ट नहीं है, परन्तु अंतर में आत्मजागृति का अपूर्व आनंद है। अरे ! अल्पकाल निद्रा हो, उस समय भी कभी ज्ञायकदृष्टि की मुख्यता नहीं हटती, और उससमय भी छठवें गुणस्थान जितनी आत्मजागृति वर्तती है।

जिसे द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता का भान हो और आत्मा में काफी एकाग्रता वर्तती हो, उसी को मुनिदशा होती है। जिसे द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की खबर न हो, और ऐसा मानता हो कि कर्म के उदय से विकार होता है, उसे तो मुनिदशा की गंध भी कहाँ से होगी ? सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी मुनिदशा के लिये महान पुरुषार्थ की आवश्यकता है। वस्त्रत्याग अथवा स्वस्थ शरीर—किन्हीं बाह्य कारणों के कारण मुनिदशा नहीं होती, परन्तु आत्मा स्वयं कर्ता होकर मुनिदशा प्रगट करता है; मुनिदशा के छहों कारकों रूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—यह तीनों जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से करता है, तब होते हैं, आत्मा के अन्तर्मुख पुरुषार्थ के बिना वे नहीं हो जाते। चैतन्यस्वभाव में अर्न्तमुख होने से राग दूर हो जाता है, राग को दूर करने के लिये कोई भिन्न पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। प्रथम ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है; उसके कर्ता रूप से आत्मा ही

परिणमित होता है; सम्यग्दर्शन के पश्चात् बारह भावनाओंरूपी वीतरागीपरिणति तथा मुनिदशा होती है, वह भी आत्मा स्वयं अपनी कर्तृत्वशक्ति से ही करता है; उस-उस अवस्था के छहों कारकोंरूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है। भगवान का आत्मा स्वयं छह कारकोंरूप होकर आज वीतरागी मुनिदशारूप परिणमित हुआ। मुनिदशा में चार ज्ञानसहित आत्मा के आनंद में झूलते-झूलते कुछ काल व्यतीत होने पर भगवान ने सर्वथा अंतर्मुख शुक्लध्यान की अखंड-अप्रतिपात श्रेणी लगायी और पूर्ण ज्ञान प्रगट किया।

—इसप्रकार आज भगवान की दीक्षा का महामांगलिक दिवस है। ●●

क्या निमित्त के बिना कार्य होता है ?

—ऐसी दलील का स्पष्टीकरण

नैमित्तिक / कार्य और निमित्त—यह दोनों स्वतंत्र हैं,—ऐसी स्वतंत्रता की बात चल रही हो, उस समय निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि 'क्या निमित्त के बिना कार्य होता है।'

इस सम्बन्ध में रात्रिचर्चा में की गई स्पष्टता निम्नानुसार है—

(१) प्रथम तो जब यहाँ निमित्त का काल है, उसी समय सामनेवाले नैमित्तिक पदार्थ में भी उसकी अवस्था होती ही है। निमित्त के काल के समय क्या नैमित्तिक का काल नहीं है ? प्रतिसमय जगत के सभी पदार्थों में नैमित्तिक पर्याय हो ही रही है; इसलिये 'निमित्त बिना नहीं हो सकता'—यह प्रश्न ही उसमें नहीं रहता। ऐसा एक भी समय खाली नहीं है कि जगत के पदार्थों में अपनी-अपनी नैमित्तिकपर्याय न होती हो।

(२) यहाँ नैमित्तिक अवस्था होना हो और सामने निमित्त न हो—ऐसा तो कभी होता ही

नहीं। जब नैमित्तिक कार्य होता है, तब निमित्तपने की योग्यतावाले पदार्थ जगत में होते ही हैं। निमित्त किस समय नहीं है ?

(३) 'यह निमित्त है'—ऐसा जो कहा जाता है, वही ऐसा सूचित करता है कि उसी समय सामने नैमित्तिक कार्य का अस्तित्व है। यदि नैमित्तिक कार्य है तो परवस्तु को उसका निमित्त कहा जाता है। नैमित्तिक कार्य हुए बिना तो परवस्तु को निमित्त भी नहीं कहा जाता; क्योंकि नैमित्तिक के बिना निमित्त किसका ? इसलिये 'निमित्त' ही तब कहलाया कि जब नैमित्तिक कार्य है। नैमित्तिक कार्य होने से पूर्व दूसरी वस्तु को निमित्त कहा ही नहीं जाता; और जब निमित्त कहा जाता है, तब तो यहाँ नैमित्तिककार्य विद्यमान है; इसलिये 'निमित्त के बिना नहीं हो सकता'—इस बात को अवकाश ही नहीं रहता।

❀ ❀ ❀

❀ जगत के प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय अपनी नैमित्तिक पर्याय हो ही रही है।

❀ नैमित्तिक पर्याय के समय सामने निमित्त होता ही है।

❀ जब यहाँ निमित्त की पर्याय होने का समय है, तब सामनेवाली वस्तु में भी अपनी नैमित्तिक पर्याय होने का समय है।

❀ नैमित्तिक कार्य हुए बिना दूसरी वस्तु को निमित्त नहीं कहा जाता।

❀ नैमित्तिक कार्य हुआ है, तभी परवस्तु को निमित्त कहा जाता है।—इसप्रकार नैमित्तिक कार्य की और निमित्त की स्वतंत्रता है।

यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि शास्त्रों में जहाँ ऐसी दलील की जाती है कि—'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता;' वहाँ वह उस जीव को उचित निमित्त का ज्ञान समझाने के लिये है, जो छह द्रव्यों को मानता ही नहीं—आत्मा के सिवा परवस्तु का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वह दलील निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये है। किन्तु जो जगत में छह द्रव्यों को स्वीकार करते हैं; नैमित्तिक और परनिमित्त दोनों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, स्वतंत्रता मानते हैं, उनके सामने भी यह दलील करना कि—'क्या निमित्त के बिना कार्य होता है ?' तो वह तो मात्र निमित्ताधीन दृष्टि का आग्रह है; अतः उन्हें स्वतंत्रता की बात नहीं रुचती। ●●

⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘

महान तत्त्वार्थ-शास्त्र

हिन्दी भाषा में छपकर तैयार हो गया है

मोक्षाशास्त्र (सूत्रजी)

जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली में किया गया है और जिज्ञासुओं को समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर नयप्रमाण से सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं।

तत्त्वप्रेमियों को यह ग्रन्थ पढ़ने योग्य है। अत: इसका मूल्य लागतमूल्य से भी २ रुपये कम रखा गया है।

पृष्ठ संख्या - करीब ९००

मूल्य पांच रुपया, पोस्टेज अलग

— प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋ ❋

दसलक्षणधर्म के प्रवचन सहित:—

आत्मधर्म की फाईल

आत्मधर्म की पाँचवें वर्ष की फाईल, जिसमें दसलक्षण धर्म के प्रवचन भी समाविष्ट हैं, उसका मूल्य ३-१२-० के बदले में सिर्फ २-१२-० रखा गया है।

(पोस्टेज अलग)

—: प्राप्तिस्थान :—

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘ ⌘

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।